प्रकाशक :
अ० वा० सहस्रबुद्धे,
मंत्री, अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ,
वर्धा (बंबई राज्य)

पहली बार : १०,०००
दिसम्बर, १९५६
मूल्य : चार आना

मुद्रक
पं० विश्वम्भरनाथ भार्गव,
स्टैण्डर्ड प्रेस,
इलाहाबाद

आशीर्वाद

अप्पा साहब की यह छोटी-सी पुस्तक निःसन्देह सभी को नये विचारों की प्रेरणा देगी। मैं आशा करता हूँ कि यह कुछ लोगों को आचार की भी प्रेरणा देगी।

वैसे यह सर्वथा नया विचार नहीं। सभी धर्मकारों ने अपनी-अपनी ओर से सूदखोरी का थोडा-बहुत निषेध किया ही है। विशेषतः मुहम्मद पैगंबर ने सूदखोरी का बार-बार निषेध किया है। संपत्ति सूद से नहीं, दान से बढती है, इसलिए उन्होंने एक सूत्र ही रच डाला है कि 'संपत्ति सूद पर मत लगाइये, दान में लगाइये।'

लेकिन यह ऐसा निष्काम-धर्म-सूत्र बन गया, जो यह बताता है कि 'दान में लगाओ' का मतलब है, वापस लौटाने की आशा न रखकर आपत्ति में फँसे लोगों की मदद करो। कतिपय उदारचेता इसे थोडा-बहुत अमल में भी लाते हैं। फिर भी लेन-देन के व्यावहारिकों का यह प्रश्न बना ही रहता है कि उसके अनुसार सकाम-व्यवहार-सूत्र क्या होगा? इस पर मुहम्मद का कहना यही है कि जैसे दान निष्काम-धर्म-सूत्र है, वैसे ही वह सकाम-धर्म-सूत्र भी है।

लेकिन यह मान लेने पर भी कि, दान ही सर्वोत्तम निष्काम-व्यवहार-सूत्र है, लोग पूछ सकते हैं कि 'हमारे काम भर का सकाम-व्यवहार-सूत्र क्या होगा?' अप्पा साहब ने प्रस्तुत पुस्तक में इसीका स्पष्टीकरण करने का यत्न किया है।

आज का व्यवहार इतना उलझन-भरा है कि कहा नहीं जा सकता कि अप्पा साहब के इस स्पष्टीकरण से लेन-देन करनेवालों को 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' जैसा विश्वास हो जायगा। और ऐसी अपेक्षा भी नहीं है। कम-से-कम हरि-कृपा से जिनका व्यवहार अभी अत्यधिक उलझनवाला नहीं है, उन्हें इसमें से अगर रास्ता मिल जाय, तो भी मुझे सन्तोष हो जायगा। इसलिए मैंने

ऊपर यह आशा व्यक्त की है कि इस पुस्तक से कुछ लोगो को तो आचरण की प्रेरणा मिलेगी ही।

यह प्रश्न स्वर्गीय किशोरलाल भाई और मैने अपने आसपास की सार्वजनिक काम करनेवाली सस्थाओ के समक्ष कई वार रखा और उसका थोड़ा-वहुत उपयोग भी हुआ। किन्तु उस सवंध में अन्तिम निर्णय हो गया हो, ऐसा नही। अव तक का यही अनुभव है कि व्यक्ति की गति से सस्थाओं की गति कम ही हुआ करती है। व्यक्ति किसी काम का आरभ करे, तो उससे सस्थाओं को गति मिल सकती है। कुछ व्यक्ति और कुछ सस्थाएँ तैयार हो जायॅ, तो समाज मे उसका प्रयोग भी हो सकता है।

गॉव-समाज में इसका प्रयोग रचना की दृष्टि से सरल सिद्ध होगा। इसी लिए इन दिनों में ग्राम-धर्म पर विशेष जोर देता रहता हूँ। मानव को सकुचित स्वार्थ त्यागने के लिए फिलहाल ग्राम-धर्म काफी है और विचार की दृष्टि से वह अतिव्यापक या अव्यक्तस्वरूप का भी मालूम नही पड़ता। इसलिए इस पर ग्राम-समाज मे विचार होने पर यह हल हो सकता है। व्यक्ति, सस्थाएॅ और ग्राम समाज तत्परतापूर्वक इस पर विचार करें।

तल्लाडा (हैदरावाद)
३-१-५६

—विनोवा के प्रणाम

५

लेखक के निवेदन

१. मूल मराठी संस्करण के बारे में :

बहुत दिनों से मन में घुलनेवाले विचार जब वहाँ समा न पाये, तभी मैंने इस पुस्तक के रूप मे विचारशील सहृदय पाठकों के सम्मुख उन्हें उपस्थित करने की यह धृष्टता की। ये विचार सर्वप्रथम मैंने बीजरूप से सन् १६३८ मे 'बलवत' साप्ताहिक-पत्र में प्रकाशित एक लेखमाला के अन्तर्गत व्यक्त किये थे।

इससे पूर्व भी अनेक सन्त-महात्माओं ने सूदखोरी का निषेध किया है। लेकिन वह पारलौकिक कल्याण के मार्गरूप मे किया गया, आज के ऐहिक व्यवहार के एक अत्यावश्यक विषयरूप में नहीं, ऐसी सर्वसाधारण की धारणा थी और है। स्वर्गीय किशोरलाल मश्रूवाला ही सूदखोरी के एवज में बट्टेखाता का प्रतिपादन करनेवाले मेरी जानकारी में पहले विचारक हैं। संत विनोबा ने अनेक अवसरों पर सूदखोरी का खुला निषेध किया है। फिर भी मुझे इस बात की अत्यावश्यकता महसूस हो रही थी कि इस सिद्धान्त का इस तरह विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाय, जिससे वह साधारण व्यावहारिक मानव को भी मान्य हो सके। इसीलिए मैंने यह यथामति यत्न किया है। इसे संत विनोबा का आशीर्वाद भी प्राप्त हो जाने से मेरा आत्मविश्वास बढ़ गया है।

फिर भी इस पुस्तक मे किया गया विवेचन संपूर्ण है या सभी संबद्ध प्रश्नों का निर्णय इसमे किया गया है—अर्थात् करने का यत्न किया गया है—ऐसा भी नहीं। इस दिशा मे यह एक अल्प-प्रयासमात्र है। इसकी कमी पूरी कर लेने का काम विचारशील पाठकों का ही है।

मुझे यह विचार अत्यधिक महत्त्व का मालूम पड़ता है कि आज की स्थिति मे से सूद-निवारण के आदर्श की ओर किस तरह बढ़ा जाय। इस विषय में बड़ो के पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा रखकर ही मैं प्रस्तुत पुस्तिका प्रकाशित कर रहा हूँ। वैसा पथ-प्रदर्शन प्राप्त होने तक भी इस बारे मे मुझे जो कुछ कदम सूझ पड़े, उन्हें मैंने इस पुस्तक में सुझाया है।

सहृदय सहधर्मी पाठकों से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे इसे पढ़कर अपना

अभिप्राय, सुझाव, शकाएँ, कठिनाइयाँ तथा उनका निवारण और सबसे महत्त्व की बात यह कि व्याज-निरसन के निमित्त वे स्वय क्या और कितना करने के लिए प्रस्तुत हैं, क्या कर रहे हैं, उसमें उन्हें कैसे कैसे अनुभव प्राप्त हुए ? आदि विषयों पर मेरे साथ विचार-विनिमय करने की कृपा करें । व्याज निरसन कार्यान्वित करने में सहमत सहयोगियों को सहकार्य करना और एक-दूसरे का साथ देना आवश्यक है । इस सबध की सारी काररवाई दर्ज करनेवाले किरानी का काम मे सहर्ष स्वीकार कर रहा हूँ ।

गोपुरी (रत्नागिरि)
२३-२-'५५

—अप्पा पटवर्धन

२. हिन्दी-संस्करण के बारे में :

अखिल भारत सर्व-सेवा सघ के प्रकाशन-विभाग ने मेरी इस छोटी-सी पुस्तिका का हिन्दी-सस्करण प्रकाशित करने का निश्चय किया, यह प्रस्तुत पुस्तक के लिए बड़े गौरव की बात है । मराठी सस्करण प्रकाशित होने के बाद गत छह महीनों के बीच मुझे और जो विचार सूझ पड़े, वे इस हिन्दी सस्करण मे जोड़ दिये गये हैं । पहले 'सिद्धान्त-विवेचन' प्रकरण में (८) मुद्राओं का अवमूल्यन, (११) किराये की सीमा, (१२) क्या मालिक को हिस्सा मिले ? (२२) पूँजी-निर्माण परम कर्तव्य और (२३) रोक, निषेध और मुक्ति तथा दूसरे 'प्रश्न, शकाएँ और कठिनाइयाँ' प्रकरण मे (७) लोग बचत ही न करेंगे, ये नयी धाराएँ जोडी गयी हैं । और भी कई जगह अनेक छिटपुट सुधार किये गये हैं ।

इन विचारों को प्रकाशित करने मे मेरा दोहरा हेतु है : पहला यह कि विचारशील लोगों द्वारा इनका परीक्षण और सशोधन हो जाय और दूसरा महत्त्व-पूर्ण हेतु यह है कि सहमत लोगों की ओर से व्याज-निरसन के काम मे सहयोग मिले ।

सर्व-सेवा-सघ के सहारे और हिन्दी-सस्करण के आधार पर ये विचार अखिल भारत के विचारकों तक पहुँच सकेंगे । मैं सभी पाठकों की ओर से सम्मति, परीक्षण, सशोधन और सहकार्य की अपेक्षा रखता हूँ ।

गोपुरी (रत्नागिरि)
२०-८-'५६

ब्याज-बट्टे से अनर्थ की वृद्धि

आज जिस प्रकार का ब्याज-बट्टा दुनिया में चल रहा है, वह या तो विदेशी व्यापारियों की दलाली या आढ़त का पेशा है, अथवा किसानों तथा दूसरे धन्धे करनेवालों की जमीन-जायदाद और माल-मिल्कियत को धीरे-धीरे पचा जाने के खोटे उपाय है।

अपढ़, भोले और विश्वासपरायण लोगों अथवा विलास-लिप्त अमीरों या राजा-रईसों को बुरे खर्चों और व्यसनों में पड़ने को प्रोत्साहित कर उन्हें कर्ज में फँसाना, देन-लेन के व्यवहार में उन्हें ठगना, झूठे बही-खाते और दस्तावेज बनाना साहूकारी नहीं, बल्कि ज्वलत पाप और हिंसा है।

ऐसे अधर्मभरे ब्याज-बट्टे के रोजगार से अर्थ नहीं, बल्कि अनर्थ की वृद्धि हुई है।

—गांधीजी

अनुक्रम

ब्याज-बट्टा

सिद्धान्त-विवेचन : १ :

(१) साम्ययोग : हमारे राष्ट्रीय जीवन की रचना समाजवादी पद्धति से ही हो, इसीमें कल्याण है। इतना ही नहीं, बहुतों को यह मान्य भी हो चुका है कि अब समाजवाद टल ही नहीं सकता। (यहाँ हम 'समाजवाद' शब्द का प्रयोग 'समाजनिष्ठ जीवन-सरणि' इस स्थूल अर्थ में ही कर रहे हैं।) इसमें जो भी मतभेद होते हैं, वे केवल उस पद्धति के नाम, तफसील, कालक्रम या मार्ग के बारे में ही होते हैं। संत विनोबा इसे 'साम्ययोग' कहते हैं। कोई 'समाजवाद', कोई 'साम्यवाद', तो कोई 'समाजवादी पद्धति' के नाम से इसे पुकारते हैं। समाजवादी दल कहता है कि जमीन की मालकियत बिना मुआविजे के ही छीन ली जाय। कांग्रेसी-सरकारें मुआविजा देने को तो तैयार रहती हैं, पर वह नाममात्र का होता है। कितनी ही बार तो वह कानून की पोथियों में ही रखा रह जाता है और प्रत्यक्ष मालिक के पल्ले पड़ता ही नहीं। विनोबाजी भी भूमि का ग्रामीकरण हृदय-परिवर्तन से, पर बिना मुआविजे के, कर रहे हैं। इतना ही नहीं, उल्टे वे ऊपर से 'साधन-दान' की भी अपेक्षा रखते हैं। भूदान-यज्ञ के बाद अब तुरत ही 'संपत्ति-दान-यज्ञ' भी जोर पकड़ने लगा है। 'संपति सब रघुपति कै आही !' वास्तव में धन-लाभ उस-उस व्यक्ति के पुरुषार्थ की अपेक्षा संयोग, परिस्थिति आदि पर निर्भर करता है। यह पुरुषार्थ

भी मानव को बड़े-बूढ़ों, गुरुजनों, पास-पड़ोसी आदि की कृपा और सहयोग से ही प्राप्त होता है। 'बिना श्रम की कमाई या थोड़े श्रम से अधिक कमाई शोषण या लूट ही है।' ये ही सब सिद्धान्त सपत्ति-दान-यज्ञ की पृष्ठभूमि हैं।

(२) व्यर्थ का पैसा : किन्तु थोड़ा ही विचार करने पर स्पष्ट दीख पड़ता है कि यदि बिना श्रम की कोई कमाई—श्रम किसीका और कमाई किसीकी—है, तो वह सूद की ही है। जमीन के या परिश्रमपूर्वक कमायी हुई और बचायी हुई सपत्ति के प्रति स्वामित्व-विसर्जन की नीति लागू करने से पूर्व उसे सूदखोरी पर लागू करना अत्यावश्यक है। जमीन का लगान और मूलधन का ब्याज, दोनों के बीच ब्याज ही अधिक असमर्थनीय है। जिन्होंने अपनी सपत्ति जमीन में लगायी हो, वे उसके लगान की आय छोड़ दें, पर जिन्होंने उसे बैंक मे रखा या शेयर खरीदने में लगाया हो, उन्हें ब्याज या मुनाफा अबाध गति से मिलता रहे—इनमे परस्पर विसंगति है और यह जमींदारों को ठगना है। सूदखोरी अनुचित सिद्ध होने पर ही जमीन के लगान का मुख्य आधार डगमगाने लगता है। वह सर्वांश मे टूटता तो है ही नहीं, क्योंकि प्रसग-विशेष मे जमीन का लगान मेहनताना भी हो सकता है। किन्तु उसकी अधिक चर्चा का यह अवसर नहीं है*। यहाँ हम यही दिखलाना चाहते है कि सूद मूलत' कितना अनुचित है।

(३) गरजू बनाम गवरू : यह सार्वत्रिक अनुभव है कि गरजू आदमी अपनी वर्तमान आवश्यकता पूरी करने के लिए अपना माल माटीमोल बेचने के लिए तैयार हो जाता है या कर्ज के लिए अत्यधिक ब्याज देना भी पसन्द करता है। प्रति रुपया चार आना महीना सूद देनेवाले कर्जदार भी दीख पड़ते हैं। इस दर से सूद-दर-

---

* इस बारे मे अधिक विवेचन लेखक के 'गाँव का गोकुल' (प्रकाशक, अखिल भारत सर्व-सेवा-सघ, काशी) के पृष्ठ १४-१५ पर देखा जा सकता है।

सूद के हिसाव से दो साल में एक रुपया मूलधन का मिश्रधन ६४ रुपया और चार सालों में ४००० रुपया हो जाता है। हमने ऐसे उदाहरण प्रत्यक्ष देखे, जहाँ महज एक रुपये के लिए एक आदमी ने एक साहूकार के पास अपना आम का फलता पेड़ गिरो रखा और रुपया लौटाने की गुञ्जाइश न हो सकने के कारण वह साहूकार गत २० सालों से उस पेड़ के फल मुफ्त मे उड़ा रहा है। वारह फीसदी सूद पर लिया हुआ भी मूलधन छह साल मे दूना और वारह साल में चौगुना हो जाता है। गरजू कर्जदार को अपनी वर्तमान आवश्यकता मात्र अनुभूत होती है, और वह मानता है कि आगे सब कुछ उसकी इच्छा और अनुमान के अनुसार ही होगा। इसीलिए उसे बे-सिर-पैर के करार करने मे भी कोई दिक्कत नहीं मालूम पड़ती।

लेकिन गरजू कर्जदार भले ही अपनी मूर्खता से आत्मनाश का हेण्डनोट लिख देने के लिए तैयार हो जाय, पर उसकी वलि लेना साहूकार को शोभा नहीं देता। किसीकी कठिनाई या अज्ञान से लाभ उठाना पाप है। इसीलिए साहूकार की लोभी साहूकारी पर सामाजिक नीति-नियमों और सरकारी कानून का भी अंकुश हुआ करता है और वह होना ही चाहिए।

(४) सूद ही न रहे : और इस दृष्टि से हम स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि अगर अ ने व को कर्ज दिया, तो उसे अधिक-से-अधिक सारा मूलधन वसूल करने की छूट हो। लेकिन उसे सूद की एक पाई भी लेने का नैतिक अधिकार तो है ही नहीं, कानूनी अधिकार भी न हो। वल्कि कर्जदार को ही मूलधन मे कुछ छूट मिलनी चाहिए।

(५) उचित कर्ज : इसका यह अर्थ नहीं कि साहूकार कर्जदार की बुरी-भली सभी प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी करे। वास्तव में

उसे कर्जदार की उचित आवश्यकताएँ ही पूरी करनी चाहिए। कोई शराब पीने, जुआ खेलने और घुड़दौड़ मे दॉव लगाने आदि के लिए कर्ज चाहता हो, तो उसे स्पष्ट इनकार कर देने में ही उस पर उपकार होगा। नित्य का घाटा नित्य की उधारी से पूरा करने का भी कुछ मूल्य नहीं। प्रतिवर्ष श्रावण महीने में जीविका के लिए कर्ज पर अनाज लेना और कार्तिक मे उसे सवाया लौटाना और उसके फलस्वरूप अगले श्रावण मे और ज्यादा कमी पड़ना – इस तरह दुष्ट-चक्र चलाते रहने की अपेक्षा उसे तोड़ डालना ही उचित है। हड्डियों तक गहरी भिनी हुई और असाध्य बन गयी उधारी का उपाय सस्ते सूद पर कर्ज देना कभी नहीं हो सकता। उसके लिए तो कुछ मूलभूत उपाय की ही योजना करनी चाहिए।

इन दिनों सरकार और अन्य लोगों पर बोवाई के निमित्त किसानों को काफी तकावी देने की सनक सवार हुआ करती है। इसका उद्देश्य कितना ही उज्ज्वल क्यों न हो, पर चूँकि उस (कर्ज) पर सूद चढ़ता जाता है, इसलिए इस तरह कर्ज देते रहने का फल यही होता है कि बोवाई के लिए पहले लिया हुआ कर्ज सूद-समेत चुकाने के निमित्त वेचारा किसान फसल काटते ही उसे वेच देता और स्वय छूछा वन जाता है। फिर आगे की वोवाई आदि के लिए उसे पुन कर्ज लेना पडता और फसल वेचकर उसे चुकाना पड़ता है। इस तरह वेचारे को सूद के चलते सिर उठाते नहीं वनता। साहूकार को तो प्रतिवर्ष सूद मिलता ही रहता है। इस तरह ऐसा कर्ज देते रहना 'पूतना मौसी का दूध उतर आना' ही सिद्ध होता है।

वास्तव मे आपत्ति-निवारण और नव-निर्माण या विकास-कार्य, ये दो ही अवसर कर्ज काढ़ने के लिए उचित कहे जा सकते हैं। अन्य अवसरों पर कर्ज काढ़ना या कर्ज देना, दोनों ही अनुचित कहे जायेंगे।

ऐसे उचित अवसरों पर गरजू को वापसी कर्ज देते समय यह

भी उचित माना जायगा कि साहूकार उसे कुछ दान दे। १०० रुपये कर्ज मे १० रुपये दान मानकर ऐसे कर्जदार से ९० रुपये ही वसूल किये जायँ। किसान का बैल मर जाय या बाढ़ में उसका घर बह जाय, तो उसे पुनः अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए मदद की जरूरत तो पड़ेगी ही। किन्तु जिसे पूरी रकम मदद में देना संभव न हो, वह उसमे से अल्प-अंश मदद के तौर पर दे और अधिक-अंश की वापसी की अपेक्षा रखे, तो वह ठीक है। लेकिन उसकी आपत्ति से लाभ उठाकर उससे सूद लेना सर्वथा अनुचित ही कहा जायगा।

उसी तरह नव-निर्माण के लिए—जैसे : कुँआ खोदने, बाग बनाने, यंत्र-सामग्री या विशेष शिक्षण के लिए—किसीको कर्ज की जरूरत हो, तो उसके उस प्रयत्न से सारे समाज को लाभ ही होगा। इसलिए इस तरह के व्यवहार्य प्रयत्नों के निमित्त समाज उसे प्रोत्साहन या मदद दे; निदान सूद लेकर इस तरह के प्रयत्नों में रुकावट तो कभी भी न डाले।

सरकार इस तरह के प्रयत्नों में मदद (सबसिडी) देती है, यह उचित ही है। किन्तु वही सरकार नव-निर्माण के निमित्त जो तकावी देती है, उस पर जबर्दस्त सूद बैठाती है। सरकार की यह नीति मूलतः अनुचित और 'सबसिडी' देने के लक्ष्य से सर्वथा विसंगत है। तकावी कर्ज पर सूद लेने का अर्थ है, नव-निर्माण के प्रयत्नों पर कर लादना। विकास-कार्य से सरकार को बिक्री-कर, आय-कर, उत्पादन-कर (सेल टैक्स, इनकम टैक्स और एक्साइज्) आदि के रूप में लाभ मिलनेवाला ही है। फिर तकावी पर सूद माँगने का अर्थ उद्योगी व्यक्ति को प्रोत्साहन देने के बजाय उसका उत्साह भंग करना ही माना जायगा।

(६) बट्टाखाता : सारांश, सूदखोरी या साहूकारी लोभ या लाभ की भावना से नहीं बल्कि परोपकार की भावना से ही चलायी

जाय। इसीलिए अब साहूकारी 'सूदखोरी' की न होकर 'बट्टेखाते' की ही होनी चाहिए।

सूद का अर्थ है, गरजू, सकट मे पड़े, गिरती दशावाले या आपद्ग्रस्त व्यक्ति को दण्ड देना और गव्बर को इनाम बॉटना! यह ठीक वैसे ही है, जैसे किसी बुद्धिहीन छात्र के—जिसे परीक्षा मे ३० गुन मिले हों और पास होने के लिए सिर्फ ३॥ प्रतिशत की कमी हो—५ गुन काट लेना और ६५ प्रतिशत पानेवाले बुद्धिमान् छात्रों को ५ गुन बढ़ा देना! एक दफा यह भी खप सकेगा। जिस तरह शिक्षक हर महीने के आखिर मे गुन जोड़ छात्रों को गुन देते हैं, पर गत मास के गुनों को मिटाकर नया हिसाब शुरू करते हैं, या खेल मे जिस तरह एक-दूसरे पर दॉव चलाये जाते हैं, पर अन्त मे वे भुला दिये जाते हैं, उसी तरह हर साल के अन्त मे या हर दसवें साल सारा लेन-देन खतम कर—खिलाड़ी जैसे पुनर्वितरण (अदला-बदली) कर लेते हैं, वैसे ही—जमीन और सपत्ति समान बॉट लेनी हो, तो उतनी अवधि के लिए सूदखोरी भी मान ली जा सकेगी। गुन देने या गुन गिनने का उद्देश्य छात्र या खिलाड़ी का हौसला बढ़ाना ही होता है। अगर उसका हिसाब सालों चलता रहे, तो यह हौसला बिलकुल ही न रहेगा और तब पिछड़े छात्र तथा हारे हुए खिलाडी हताश अवश्य हो जायँगे। लेकिन कर्ज और सूद का हिसाब-किताब तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। उसके चलते गिरी दशा को प्राप्त गरजू लोग सदा के लिए हताश बन गये हैं। अगर उनमे पुन. उत्साह भरना हो, तो उनका पिछला सारा कर्ज खतम कर भविष्य मे किसी पर सूद चुकाने का अवसर ही न आने दें।

सूदखोरी निरी मुफ्तखोरी है। लगान, किराया, नफा आदि का विशेष स्थिति मे या उचित सीमा के भीतर समर्थन भी किया जा सकता है, पर सूद का तो किसी भी तरह समर्थन नहीं किया जा सकता। सपत्ति-सग्रह के बारे में हमारी कोई आपत्ति नहीं। काल-

क्रमानुसार स्वाभाविक रूप से घटता जानेवाला संग्रह चल सकता है। लेकिन प्रतिवर्ष अन्तःशक्ति से याने मालिक के श्रम के बिना स्वतः बढ़ते जानेवाला संग्रह नहीं चाहिए। Defensive—बचावशील (क्षमा-याचनाशील) संग्रह चल सकता है, पर—Offensive बढ़ाव शील (बढ़ाव=वृद्धि) संग्रह नहीं चाहिए।

(७) घटती स्वाभाविक है : संपत्ति का संचय कालान्तर से घटता जाय और नष्ट हो, यह स्वाभाविक ही है। मान लीजिये, इस बार हमारे यहाँ काफी अन्न पैदा हुआ और उसमे से कुछ बचा रहा, तो उसे मूस-घूस चाटकर सफा कर देंगे या घुन-सड़कर वह नष्ट हो जायगा।

हमें बचपन में पाठशाला मे शिक्षा मिली थी :

'गेल्याचा शोक वृथा न करावा वित्त सर्व जायाचें।
वित्ताचो काय कथा ? शाश्वत टिकणें नसेचि कायाचें॥'

अर्थात् 'वित्त या पैसा नष्ट होने का व्यर्थ शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि सारा वित्त जाने ही वाला है। वित्त की तो बात ही क्या, यह काया भी शाश्वत टिकनेवाली नहीं है।' इसी तरह :

'दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥'

अर्थात् दान, उपभोग और नाश, इस तरह धन की तीन ही गतियाँ हो सकती हैं। जो देता नहीं और खाता भी नहीं, उसकी तीसरी ही गति होती है। देह निरन्तर घिसती जाय और इसके विपरीत सूदखोरी से वित्त बढ़ता जाय, क्या यह निसर्ग-विरुद्ध बात नहीं ? सचमुच उस नश्वर अनाज मे से कोई मनभर मुझसे उधार ले जाय और अगले साल मुझे ताजा अनाज लौटाये, तो १६ पसेरी की जगह १५ पसेरी मिलने पर भी मेरा लाभ ही है। आम-कटहल जैसा बचा हुआ कच्चा माल कोई उधार ले जाय और अगले साल उसका आधा लौटाये, तो उसे कर्ज देनेवाले पर कर्जदार का उपकार

ही कहना पड़ेगा। इस तरह कुछ टिकाऊ माल के कर्ज पर कम बट्टा-खाता और विनश्वर माल के कर्ज पर कुछ अधिक बट्टाखाता आँकना उचित होगा।

(८) **मुद्राओं का अवमूल्यन :** किन्तु जब से मानव ने विनिमय-साधन के रूप मे मुद्राओं की खोज की, तब से तो उसने काल की कमर ही तोड दी है। मुद्राओं और नोटों पर काल का कुछ भी असर नहीं होता। फलत मानव असीम सग्रह कर सकने लगा। लेकिन उससे समाज में विपमता और उस विषमता से सुस्ती, व्यसन, लापरवाही, नैराश्य, वैमनस्य आदि अनेक अनर्थ उठ खड़े हुए। मानव पर झल्लाये हुए उस काल-पुरुप का यह प्रतिशोध ही है। इस प्रतिशोध या वदले से मानव को उवारने के लिए आवश्यक है कि जिस तरह उस काल को सभी प्रकार की असली सपत्ति के ग्रास मिलते रहते हैं, उसी तरह मुद्राओं की नकली संपत्ति के भी ग्रास मिलते रहने चाहिए।

और यह काम सहज ही किया जा सकता है। कारण मुद्राएँ कोई प्रत्यक्ष सपत्ति नहीं, वल्कि कूपन या परमिट ही हैं। जैसे कूपन देने पर डेयरी से दूध या वर्मा-शेल से पेट्रोल मिलता है, वैसे ही मुद्रा देकर चाहे जो चीज मिलती है। पर मजा यह है कि पेट्रोल का सग्रह करने पर वह गल या उड़ जाता है, लेकिन इन कूपनों पर गलने या उड़ने का यह घाटा नहीं लग पाता। इतना ही नहीं, इन्हें वेग मे (याने वैंक मे, गँवार लोग वेग को ही वैंक कहते हैं) रखने पर ये व्याते भी हैं।

हमारा यह कहना है कि वे कभी व्याने तो चाहिए ही नहीं, वल्कि जैसे पेट्रोल घटता है, वैसे ही कालान्तर से पेट्रोल के कूपन भी घटने चाहिए। जिस तरह कूपन या परमिट कुछ अवधि तक ही चलते हैं, उसी तरह उस साल के नोट भी उसी साल चलें। '५६ की मुद्राएँ '५७ मे अपने-आप न चलनी चाहिए। इसके लिए उन्हें फिर से ट्रेजरी

ऑफिस (खजाने) में ले जाकर उन पर '५७ की मुहर लगवा लेनी चाहिए और इस तरह सालभर की अवधि बढ़ा देते समय १०० रुपयों के ९७ रुपये ही वापस मिलने चाहिए। फिर से '५८ सन् में उन ९७ के भी ९७ प्रतिशत हो जायँगे। चक्रवृद्धि का व्याज प्रतिवर्ष बढ़ता ही जाता है, तो यह चक्रवृद्धि का बट्टाखाता प्रतिवर्ष घटता ही जायगा। उसका बट्टा घटेगा। याने ५० या १०० साल में भी मूलधन १०० मुद्राएँ पूरा समाप्त न होकर उनका थोड़ा तो भी अंश बचा ही रहेगा।

हमारे यहाँ के नोट दशमलवीय पद्धति के होते ही हैं। अब शीघ्र ही रुपये और पैसे भी दशमलव-पद्धति के होने जा रहे हैं। फिर तो हमारे इस प्रतिशत घाटे का हिसाब भी सीधा बैठ जायगा! तब रुपये के ९७ पैसे वापस दिये जा सकेंगे।

इस तरह मुद्राओं और नोटों के प्रतिवर्ष क्रमशः घटते जाने पर साहूकार को थोड़ा-सा सूद मिले, तो भी कोई आपत्ति नहीं। साहूकार द्वारा किसीको कर्ज पर दिये गये १०० रुपयों को वर्ष के अन्त में ९७ की जगह ९८ या ९९ होने दीजिये। कारण, दूसरे को कर्ज देना भी 'इंटरप्राइज' (जोखिम) ही है। उसमें कुछ त्याग है। यह जोखिम उठाने या यह त्याग करने के लिए कुछ प्रलोभन आवश्यक हो, तो उसे वह मिलने दिया जाय।

(९) पूँजी किसे कहते हैं? : मूलतः पूँजी पैसा नहीं है। गाड़ी, आरा, किश्ती, रास्ता, रेल्वे, पुल आदि ही सच्ची पूँजी है। पूँजी का अर्थ है : औजार या साधन। उचित साधनों से मानव की कार्यशक्ति कई गुना बढ़ जाती है। पूँजी का अर्थ है, संचित श्रम-बल। अपना आज का श्रम आज की अपनी सुख-सुविधाओं की पूर्ति में न लगाकर ऐसे साधनों या औजारों के निर्माण में लगाया जाय, जिससे अपना कल का श्रम अधिक कार्यक्षम हो, तो उसीसे पूँजी तैयार होती है। भोथरे हँसिये से काम करते रहने की अपेक्षा उसे अच्छी धार देने में

दस मिनट खर्च करना पूँजी-निर्माण करने का ही उदाहरण है। साराश, 'पूँजी' पैसा नहीं, बल्कि भावी उपयोग के लिए सचित रखा गया श्रम याने उस श्रम से निर्मित साधन या औजार ही हैं। पैसा मूलत पूँजी न होने पर भी सभी साधनों का साधन होने से उसे पूँजी की पदवी प्राप्त हो गयी है।

(१०) **किराया-वसूली उचित :** साधन या औजार किसी दूसरे को उपयोग के लिए दिये जायँ, तो उससे उपयोग के कारण होनेवाले औजारों के छीजन की भरपाई करा लेना, याने छीजनभर का किराया वसूल करना उचित ही कहा जायगा। इस दृष्टि से किरायेदार से मकान का किराया लेना भी अनुचित नहीं, क्योंकि उसके चलते घर छीजता ही है। इस छीजन को चालू खर्च मे गिनना और उपयोग करनेवाले से उसकी भरपाई करवा लेना उचित ही है।

किन्तु रोकड पूँजी कभी छीजती नहीं। इसलिए ग्राहक द्वारा उसका छीजन चुकाने का सवाल ही नहीं उठता। अगर मैं आपकी आरी से महीनेभर काम लूँ, तो वह आपको छीजकर ही वापस मिलेगी। लेकिन आपका नवरी नोट काम मे लाने पर भी उसके मूल्य मे एक पाई भी छीजन नहीं आता, भले ही वह जीर्ण हो जाय। इसीलिए कर्जदार द्वारा उसका छीजन चुकाने का सवाल ही नहीं उठता।

(११) **किराये की सीमा :** औजार या साधन दो तरह से छीजते है एक तो उपयोग के कारण और दूसरे काल के कारण। काल तो सभी का सहारक है ही। घर, मोटर या आरी को आप काम मे न लायें और न किसीको किराये पर ही दें, केवल घर मे रखकर उन्हें पूजते रहें, फिर भी कालान्तर मे वे चीजें नष्ट होकर ही रहेंगी। घर जीर्ण-शीर्ण हो जायगा, मोटर और आरी जग खा जायँगी। वस्तुओं का यह कालमूलक छीजन उनके मालिक को ही अपरिहार्यतः सहना होगा और वह उचित भी है।

किन्तु जहाँ उपयोग के कारण वस्तुएँ छीजती हों, वहाँ उस छीजन की भरपाई किरायेदार द्वारा होनी न्याय्य है। फिर भी इस भरपाई की रकम का हर साल का कुल जोड़ उस वस्तु के वास्तविक मूल्य से कभी भी अधिक न होना चाहिए।

उदाहरणार्थ : मान लीजिये कि मैंने एक हजार रुपये लगाकर एक तोंगा-घोड़ा खरीदा और उसे किसी गाड़ीवान को २५ रुपये मासिक भाड़े पर दे दिया। वह गाड़ीवान अगर मुझे ३९ महीनों का ९७५ रुपया किराया चुका देता है, तो फिर मेरा उसकी ओर कुछ भी लेना बाकी नहीं रह जाता। उसे इससे अधिक किस्तें चुकाने की जरूरत न होनी चाहिए। ३९ किस्तों के बाद वह समझ ले कि मैंने तोंगा-घोड़ा खरीद लिया। मतलब यह कि वह किराया कीमत की किस्तें ही हैं।

इस पर पूछा जा सकता है कि यदि कोई एक ही गाड़ीवान लगातार ३९ महीने तक प्रतिमास २५ रुपये देता रहे, तो फिर वह उस तोंगे का मालिक बन जायगा, यह तो ठीक है। लेकिन ये किराये-दार गाड़ीवान प्रतिमास बदलते रहें, तब क्या होगा ? क्या जो ३९वें महीने का २५ रुपया देगा, वही उस तोंगे का मालिक बन जायगा ? क्या यह "पराये धन पर लक्ष्मीनरायण" जैसा नहीं होगा ? हाँ, होगा जरूर ! पर उसी न्याय से मालिक भी उस तोंगे की पूरी (घटती तो निश्चित ही) कीमत वसूल करने के बाद भी उस तोंगे पर अपनी मालकियत बताये, तो क्या वह भी "पराये धन पर" जैसी ही बात नहीं ठहरती ?

इसलिए ३९ महीनों के अन्त में यदि पुराने तोंगे और बूढ़े घोड़े की कीमत ४०० रुपये होती हो, तो मालिक को उस अवधि में भाड़े के रूप में ५७५ रुपये ही मिलना उचित होगा। पहले के कुछ महीनों का किराया अधिक रहना और फिर वह तोंगा जैसे-जैसे पुराना होगा, वैसे-ही-वैसे किराये में घटाव होना भी वाजिब कहा जायगा। किरायेदार बदलते रहेंगे, कुछ दिनों तक तोंगा बिना किराये का पड़ा

रहेगा और उसके तबेले का किराया तथा घोड़े की खुराकी मालिक को ही सहनी पड़ेगी—इस तरह की और ऐसी ही अन्य भी संभाव्य कठिनाइयों का विचार कर किराया और उसमें छूट निर्धारित करने का काम तो गणितज्ञ (एक्चुअरी) का है, लेकिन उसका आधारभूत सिद्धान्त ऊपर बताया हुआ ही होना चाहिए।

यहाँ ताँगा-घोड़े का मतलब है, मालिक का पूर्व-श्रम। इस पूर्व-श्रम को गाड़ीवान के चालू श्रम का सहयोग मिलने से ही सवारियों का यातायात हो पाता और उससे आय होती है। इसपूर्आय का वितरण करते समय पूर्व-श्रमिक को सीमित ही किराया मिले और बाकी की आय चालू श्रमिक के ही हाथ लगे, यही उचित है। गाड़ीवान ताँगे का श्रेष्ठ धारण-कर्ता माना जाय और मालिक कनिष्ठ धारण-कर्ता। कारण साधन के बिना श्रमिक लँगड़ा है, तो श्रमिक के बिना साधन भी बाँझ है।

(१२) **क्या मालिक को हिस्सा मिले ?** : 'कीमत की किस्त के तौर पर किराया मिले' यह बताने के बाद अब उसीसे मिलता-जुलता दूसरा सवाल यह उठता है कि 'क्या मालिक और गाड़ीवान की साझेदारी रहे ? क्या मालिक को ताँगेवाले की आय का हिस्सा मिले ?' यह प्रश्न सर्वसाधारण रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है कि 'क्या कंपनी के शेयर-होल्डरों को डिविडेण्ड (हिस्सेदारों की आय का हिस्सा) मिलना चाहिए ?'

"शेयर-होल्डर और मालधनी या साहूकारों के बीच अन्तर है। शेयर-होल्डर नफे के साथ नुकसान का भी साथी है। वह अपने शेयर की रकम वापस नहीं माँग सकता। उसे अपने शेयर कम कीमत पर भी बेचने पड़ते हैं। इसीलिए पूँजीपति को 'स्लीपिंग पार्टनर' (निद्रित सहकारी) कहा जाता है। पूँजीपति या साहूकार बनने की अपेक्षा हिस्सेदार बनने में 'इण्टरप्राइज' (जोखिम) है। यह जोखिम उठाने

के कारण मालिक को पूँजी की वापसी के अतिरिक्त भी क्या और कुछ मिलना आवश्यक नहीं ?"

किन्तु 'निद्रित सहकारी' यह शब्द-प्रयोग ही 'वन्ध्य पुत्र' की तरह विपरीत या निरर्थक है। वह एक निरा भुलावा है। सोया हुआ व्यक्ति कमाई का हिस्सा माँगे, यह उसकी फालतू जबर्दस्ती और उसे हिस्सा देना कंपनी के उन कार्यकारी (एक्टिव) हिस्सेदारों का दब्बूपन ही है। निष्क्रिय जोखिम जुआ या सट्टेबाजी ही है। जुए में साहस होने पर भी वह पुरुषार्थ-हीन, लोभी और मुफ्तखोर साहस है। समाज को उसे कभी भी मान्यता और प्रतिष्ठा नहीं देनी चाहिए। स्वामित्व कर्तृत्व पर जबर्दस्ती चलाये और मालकियत लायकियत से लगान माँगे, यह सर्वथा अन्याय्य और पुरुषार्थ के लिए घातक भी है। आखिर डिविडेण्ड भी तो सूद का ही एक प्रकार है।

(१३) **उधारी और अगाऊ खरीद :** कर्ज पर सूद लगाना सूदखोरी का सादा सर्वसामान्य प्रकार है। लेकिन यह सूदखोरी बहुरूपी है। उसके और भी अनेक छिपे प्रकार चलते हैं।

इनमें एक प्रकार यह है कि गरजू ग्राहक को माल उधार देना और माल के मूल्य पर सूद न लगाकर खुद माल की दर ही नकद बिक्री की दर से ज्यादा लगाना। माल भी सड़ा-गला देना और माप-तौल में भी चालाकी कर लेना !

ऐसी छिपी सूदखोरी तो और भी निन्द्य है। ग्राहक भी अगर समुचित कारण के बिना उधार माँगता है, तो वह अनुचित है। उधार देने में भी पात्र-अपात्र का विवेक करना चाहिए और सत्पात्र ग्राहक को ही उधार देना चाहिए। उसे महँगा नहीं, बल्कि सस्ता माल देना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि माल चोखा हो। 'उधार' का अर्थ है : 'उद्धार'। वास्तव में किसी आफत के मारे को या किसी विकास-कार्य को उधार देना हो, तो दीनोद्धार या जगदुद्धार की दृष्टि से ही देना चाहिए; ग्राहक को और गहरे गड्ढे में ढकेलने के लिए नहीं।

सूदखोरी का दूसरा छिपा प्रकार 'अगाऊ खरीद' है। किसान का खेत कार्तिक में पकता है, तो साहूकार भावी फसल की खरीद आषाढ़ मे ही कर लेता है, लेकिन दर बाजार-भाव से आधी लगाता है।

किन्तु ऐसे व्यवहार भी लोभ से नहीं, बल्कि उपकार-बुद्धि से ही करने चाहिए। वहाँ भी पात्र-अपात्र का विचार करना चाहिए। और सत्पात्र की असहाय स्थिति और अज्ञान का अनुचित लाभ न उठाते हुए उसे अपनी सामर्थ्य और ज्ञान का लाभ ही पहुँचाना चाहिए।

साराश, मानव-मानव की भेट मल्लयुद्ध (कुश्ती) कर एक-दूसरे को गिराने के लिए न हो, बल्कि कधे-से-कधा मिलाकर एक-दूसरे के सहयोग से जीवन-वन का मार्ग निकालने के लिए होनी चाहिए।

(१४) **सूदखोरी का उद्गम :** आखिर सूद लेने की यह बहुरूपी पद्धति मूलत. कैसे पैदा हुई ? सभव है कि वास्तविक पूंजी का किराया लेने की प्रथा रोकड की नकली पूँजी पर भी लागू होकर मूल-

क्योंकि इस अवधि मे उसके यहाँ उन १० भेड़ों की २० भी हो जाती है।

किन्तु अब जमाना बिलकुल बदल गया, उल्टा जमाना हो गया। इसलिए अब सूदखोरी के स्थान पर बट्टेखाते का ही चलन उचित होगा। बचपन मे बढ़ती हुई उम्र के साथ आहार बढ़ाना ही हितकर होता है। इसके विपरीत बुढ़ौती में बढ़ती उम्र के साथ उसे कम करते जाना ही हितावह होगा। यही न्याय यहाँ भी लागू है। याने आजकल प्रचलित सूदखोरी का किसी भी प्रकार से समर्थन नहीं किया जा सकता। 'दूसरा कठिनाइयों में आ पड़ा है, तो उसे चूस डालें' इस दुष्ट-वृत्ति के सिवा सूदखोरी की जड़ मे और कोई कारण हो ही नहीं सकता।

(१५) सूदखोरी का दुष्परिणाम : इस सूदखोरी के अनेक भयानक प्रकार सर्वत्र चलते देखे जाते हैं। आज सूदखोरी सम्मान्य हरामखोरी—हराम का, बिना श्रम का खाना—बन गयी है। गरजू को घाटी मे गिरफ्तार कर लूटनेवाले डाकू को 'साहू-कार' (सज्जनों की करनी करनेवाला) कहकर प्रशंसा की जाती है। सूदखोरी के कारण ही आज रक्तशोषक साहूकार और उसके क्लर्कों—दीवानजी—मैनेजरों आदि का बहुत बड़ा वर्ग समाज मे फल-फूल रहा है। उनके संघ और कार्पोरेशन (बैंक) बने हैं। दूसरी ओर बहुसंख्यक श्रमजीवी-वर्ग निष्प्राण-सा बन गया है। जैसे-ही-जैसे वह निष्प्राण होता गया, वैसे-ही-वैसे वह साहूकार का और अधिक शिकार बना। इस तरह आज एक ओर निरुद्योगी, विलासी, मिजाजखोर पूँजीपति, तो दूसरी ओर हाथ-पैर के सिवा किसी भी प्रकार की पूँजी से रहित, मालिकों द्वारा नित्य शोषित और खाली पेट मजदूर—इस प्रकार मानव-समाज का दो भागों मे विभाजन हो गया है।

सूदखोरी की साहूकारी के चलते ही किसानों की और मुफ्तखोर

सूदखोरी का दूसरा छिपा प्रकार 'अगाऊ खरीद' है। किसान का खेत कार्तिक मे पकता है, तो साहूकार भावी फसल की खरीद आषाढ़ मे ही कर लेता है, लेकिन दर बाजार-भाव से आधी लगाता है।

किन्तु ऐसे व्यवहार भी लोभ से नहीं, बल्कि उपकार-बुद्धि से ही करने चाहिए। वहाँ भी पात्र-अपात्र का विचार करना चाहिए। और सत्पात्र की असहाय स्थिति और अज्ञान का अनुचित लाभ न उठाते हुए उसे अपनी सामर्थ्य और ज्ञान का लाभ ही पहुँचाना चाहिए।

साराश, मानव-मानव की भेट मल्लयुद्ध (कुश्ती) कर एक-दूसरे को गिराने के लिए न हो, बल्कि कंधे-से-कधा मिलाकर एक-दूसरे के सहयोग से जीवन-वन का मार्ग निकालने के लिए होनी चाहिए।

(१४) **सूदखोरी का उद्‌गम :** आखिर सूद लेने की यह बहुरूपी पद्धति मूलत कैसे पैदा हुई? सभव है कि वास्तविक पूजी का किराया लेने की प्रथा रोकड़ की नकली पूँजी पर भी लागू होकर मूल-धन का सूद लेने की भूल चल पड़ी और वह गले भी उतर गयी। अथवा पुराने जमाने में गाय-बैल, भेड़-बकरी ही लोगों का 'धन' होता था। चराई के लिए जगल भी काफी होने से इस धन के पालन-पोषण पर किसी तरह का खर्च न बैठता था और यह स्वयशक्ति से बढ़ता ही जाता था। जिस युग मे मानव के जीवन-निर्वाह के एकमात्र साधन शिकार या कन्द-मूल-फल ही थे, उस समय गाय-बैल और भेड-बकरियों के झुड अन्न और वस्त्र के भी (कारण लोग उनकी खालें ओढते थे) भडार ही होते, जो निरतर बढ़ते ही रहते। जहाँ एक-एक पशु शरीर से बढता, वहीं उनका सारा झुड सख्या मे भी बढ़ने लगता। अर्थात् मैं किसीको इस साल १० भेडें उधार देता हूँ, तो अगले साल ११ भेडें वापस करना ही उसके लिए उचित है।

क्योंकि इस अवधि में उसके यहाँ उन १० भेड़ों की २० भी हो जाती हैं।

किन्तु अब जमाना बिलकुल बदल गया, उल्टा जमाना हो गया। इसलिए अब सूदखोरी के स्थान पर बट्टेखाते का ही चलन उचित होगा। बचपन में बढ़ती हुई उम्र के साथ आहार बढ़ाना ही हितकर होता है। इसके विपरीत बुढौती में बढ़ती उम्र के साथ उसे कम करते जाना ही हितावह होगा। यही न्याय यहाँ भी लागू है। याने आजकल प्रचलित सूदखोरी का किसी भी प्रकार से समर्थन नहीं किया जा सकता। 'दूसरा कठिनाइयों में आ पड़ा है, तो उसे चूस डालें' इस दुष्ट-वृत्ति के सिवा सूदखोरी की जड़ में और कोई कारण हो ही नहीं सकता।

(१५) **सूदखोरी का दुष्परिणाम :** इस सूदखोरी के अनेक भयानक प्रकार सर्वत्र चलते देखे जाते हैं। आज सूदखोरी सम्मान्य हरामखोरी—हराम का, बिना श्रम का खाना—बन गयी है। गरजू को घाटी में गिरफ्तार कर लूटनेवाले डाकू की 'साहू-कार' (सज्जनों की करनी करनेवाला) कहकर प्रशंसा की जाती है। सूदखोरी के कारण ही आज रक्तशोषक साहूकार और उसके क्लर्कों—दीवानजी—मैनेजरों आदि का बहुत बड़ा वर्ग समाज में फल-फूल रहा है। उनके संघ और कार्पोरेशन (बैंक) बने हैं। दूसरी ओर बहुसंख्यक श्रमजीवी-वर्ग निष्प्राण-सा बन गया है। जैसे-ही-जैसे वह निष्प्राण होता गया, वैसे-ही-वैसे वह साहूकार का और अधिक शिकार बना। इस तरह आज एक ओर निरुद्योगी, विलासी, मिजाजखोर पूँजीपति, तो दूसरी ओर हाथ-पैर के सिवा किसी भी प्रकार की पूँजी से रहित, मालिकों द्वारा नित्य शोषित और खाली पेट मजदूर—इस प्रकार मानव-समाज का दो भागों में विभाजन हो गया है।

सूदखोरी की साहूकारी के चलते ही किसानों की और मुफ्तखोर

जमींदारों की भी जमीनें साहूकारों के हाथ चली गयी हैं। राजनैतिक धूमधाम के पुराने जमाने में जमीन की मालकियत भले ही अधिकतर बाहु-बल और धाक-डपट पर ही चलती हो, पर अंग्रेजी शासन के शान्तिकाल मे तो वह मुख्यत. सूदखोरी के कारण ही श्रमजीवी किसानों के हाथ से निकलकर साहूकारी-पेशा जमात के पास पहुँच गयी है। महाराष्ट्रभर सर्वत्र यही स्थिति दीख पड़ती है। और जगह भी कम-बेशी यही बात है। प्राय कहा जाता है कि महाराष्ट्र में जातिवाद तीव्र है। लेकिन जरा बारीकी से विचार करने पर ध्यान मे आ जायगा कि वह जातिवाद न होकर सूदखोर साहूकारों के प्रति चिढ ही है। अदूरदर्शी, बे-हिसाब, खर्चीले, कर्ज काढ़कर त्यौहार मनानेवाले भोले किसानों और आलसी-शौकीन जमींदारों की उँगली जहाँ एक बार साहूकार के चरख मे आ फँसती है, वहीं भूमिति-श्रेणी से (गुना-गुना के हिसाब से) बढ़नेवाले चक्रवृद्धि ब्याज के कारण वह कर्ज के पट्टे मे अधिकाधिक उलझता और अन्त मे सीठी बन जाता है। सूदखोरी के लोभी साहूकार यह विचार नहीं करते कि कर्जदार की आवश्यकताएँ उचित हैं या अनुचित। इससे कर्जदार की व्यसनान्धता, खर्चीलेपन, आलस, शान-शौकत आदि दुर्गुणों को बढ़ावा मिलता है। जिस तरह साहूकारी पाप है, उसी तरह उधारखोरी भी पाप ही है। वह मुफ्तखोरी का ही एक तीव्र प्रकार है।

उधारखोरी का अर्थ है चालू क्षणिक सुख के लिए अनन्त भविष्य को गिरो रखना। जैसे सूद का पैसा हराम का पैसा होता है, वैसे ही उधार लिया हुआ पैसा भी बिना श्रम का याने हराम का पैसा है। उधारखोरी करनेवाला भविष्य मे सवाया श्रम करने की प्रतिज्ञा किया करता है। लेकिन भविष्यकाल उसके हाथ में नहीं रहता। व्यसनी, शराबी या जुआडी लोग ही कर्जदारों के नेता बनते हैं। मद्यपान करनेवाली मूलत किसान जमातें जमीन के लिए मुहताज हो जाती हैं और मद्य-निवृत्त जमातें साहूकारी करके मालकियत

हासिल कर लेती हैं। इस तरह कृषक-वर्ग अपने ही कर्मों और अपने ही हाथों अपनी 'काली माता' साहूकार के अधीन कर देता है, फिर उससे द्वेष और मत्सर भी करता रहता है। हम भी अपने ही कर्मों, अपने ही हाथों हिन्दुस्तान का राज्य अंग्रेजों को सौंपकर अंग्रेजों से द्वेष करते ही रहे। यह भी इसी तरह की बात है।

साहूकार के प्रति कर्जदारों में द्वेष और मत्सर के साथ-साथ तिरस्कार भी पैदा होने लगता है। सभी साहूकार झूठे और जाली हिसाब बनानेवाले थोड़े ही होते हैं ? फिर भी सीधे हिसाब से भी सूद-दर-सूद से साहूकार का देना इतनी तेजी से बढ़ता है कि अनाड़ी कर्जदार को उसमें निश्चय ही उसकी असत्यता का सन्देह होता है। कर्जदार की यही भावना हो जाती है कि साहूकार ने झूठा हिसाब दिखाकर हमें ठग लिया। इससे उसके प्रति होनेवाले तिरस्कार से वह द्वेषाग्नि और भी भभक उठती है।

कहते हैं, महाराष्ट्र में तीव्र जातिवाद है। हम समझते हैं, यही उस जातिवाद की कर्म-कहानी है। रोग का यथार्थ रूप ध्यान में आ जाने पर ही उस पर अचूक उपाय-योजना करते बनती है। सूद-खोरी की साहूकारी का निवारण 'जातिवाद' पर फलदायी उपाय है।

सूदखोरी से अमीर-गरीबों के बीच की विषमता अधिकाधिक बढ़ती जाती है। विषमता से वैमनस्य पैदा होता है। समाज में परस्पर वैमनस्य और अविश्वास बढ़ते रहने पर समाज की सेवा और सुधार के सारे यत्न असफल हो जाते हैं।

(१६) **धर्म और शिष्टाचार :** इस तरह सूदखोरी अनेक अनर्थों की जड़ होने से आज तक विश्व के प्रायः सभी धर्मसंस्थापकों और साधु-संतों ने इसका तीव्र निषेध ही किया है। तैत्तिरीयान्तर्गत 'नारा-यणोपनिषद्' में 'शमलं कुसीदम्'—सूद पाप है, ऐसा वचन है। 'मनुस्मृति' में ब्राह्मण-क्षत्रिय जैसे (तत्कालीन धारणा के अनुसार) सम्मान्य वर्णों के लिए सूदखोरी सर्वथा निषिद्ध है। ईसाई-धर्म ने भी

सूदखोरी का निषेध किया है। यही कारण है कि यूरोप में यहूदी लोग साहूकारी के लिए मशहूर हो गये। स्वयं यहूदी-धर्म ने भी सूद का निषेध किया है। 'प्लेटो' और 'अरिस्तू' जैसे यूनानी दार्शनिकों ने और रोम के 'धर्मराज्य' (होली रोमन एम्पायर) ने सूदखोरी की मनाही कर दी थी। अरिस्तू का यह प्रसिद्ध वाक्य है कि 'पैसा वन्ध्या मुर्गी है, जो अडे नहीं देती।' मध्ययुग मे यूरोप मे जब तक धर्म का अधि-राज्य रहा, सूदखोरी पर कडी रोक थी। लेकिन आगे चलकर प्रोटे-स्टैंट (विद्रोही) पथ का उदय होकर जब व्यक्ति-स्वातत्र्य को अवसर मिला, तभी से सधियों का स्वातत्र्य और सूदखोरी का भी प्रसार हुआ। उसके बाद स्थापित इसलाम-धर्म ने तो सूदखोरी का डटकर विरोध किया है। व्याज निषिद्ध होने के कारण ही बहुत-से धनी मुसलमान बबई मे चालें (बडी-बडी हवेलियॉ) खरीदकर उन पर किराया वसूल करते हैं। उस किराये मे चाल के उपयोगमूलक छीजन के सिवा उसकी कीमत पर सूद भी शामिल होता है, वह अलग बात है।

सूदखोरी का तीव्र निषेध करनेवाली महाभारत की एक मजे-दार कथा एक मित्र के द्वारा मुझे मालूम हुई, जो इस प्रकार है

"एक मुनि किसी गॉव के बाहर नदी किनारे ध्यान करते थे। पास ही श्मशान मे चिता जल रही थी। उधर से एक चाडाल-कन्या आयी। कदाचित् वह बहुत दूर से आ रही हो और आगे भी उसे बहुत दूर जाना हो। उसे जोरों से भूख लगी थी। पास मे ही एक कुत्ता मरा पडा था। भूखी चाडाल-बाला ने उस कुत्ते के शव को नोंच मास का एक लोंदा निकाला और उसे भूनने के लिए एक खोपड़ी की हड्डी मे रखकर उसे चिताग्नि पर रख दिया। उसमे कूडा-करकट न पडे, इसलिए उसे कुत्ते के चमडे से ढँक दिया। फिर वहीं बैठ वह आने-जानेवालों से डॉट-डपटकर कहने लगी 'जरा हटकर, बचकर चलिये, मेरी रसोई पक रही है, उसे भ्रष्ट मत कीजिये।'

"चांडाल-कन्या की, मरे कुत्ते से चिताग्नि पर पकनेवाली वह रसोई अन्य पथिकों के स्पर्श से छू जायगी, इस बात से मुनि को बड़ा ही आश्चर्य लगा। उन्होंने उससे पूछा: 'बच्ची! कुत्ते का मृत मांस चिताग्नि पर भूनकर खानेवाली तुझ जैसी चांडाल-कन्या से बढ़कर इस दुनिया में कौन पापी मिल सकता है?'

"इस पर उस तेजस्विनी चांडाल-बाला ने उत्तर दिया कि 'क्यों नहीं? उधारी पर सूद लेनेवाला धनिक, अपनी लड़की के पैसे खानेवाला बाप, झूठी गवाही देनेवाला, दूसरे के साथ विश्वासघात करनेवाला आदि-आदि कितने ही लोग मुझसे सौगुने पापी मिलेंगे,।"

ज्ञानेश्वर महाराज ने भी सूदखोरी का उपहासपूर्ण निषेध ही किया है:

'एकोत्तऱ्याचिये वाढी। जलतिये आगीं घालिती उडी।
तियें अनायासे स्व-गोडी। सांडिती केवीं॥'

—(ज्ञानेश्वरी, ९। २। ५४)।

अर्थात् ज्ञानदेव कहते हैं कि घर को आग लगने पर जो लोभी साहूकार अपने व्याज के ऋण-पत्र निकाल लेने के लिए जलती आग में कूदने से भी बाज नहीं आते, वे लोभी लोग अनायास मिलनेवाली आत्मा की मिठास (राजविद्या) पता नहीं कैसे त्याग देते हैं!

(१७) **भाषा और लोक-मानस :** 'सूद' या 'व्याज' शब्द की व्युत्पत्ति भी ध्यान देने योग्य है। संस्कृत में 'व्याज' का अर्थ ढोंग है। इस तरह मानो लोक-मानस ने व्याज और लबारी का समीकरण ही कर डाला! अंग्रेजी के 'इंटरेस्ट (Interest) शब्द का अर्थ 'सूद' की तरह 'स्वार्थ' भी होता है। संस्कृत में व्याज या सूद को 'कुसीद' भी कहते हैं। याने सूद शब्द के आरंभ में ही 'कु=कुत्सित' उपपद लगा हुआ है। इस तरह के शब्द-प्रयोग में जनता का हृदय प्रतिबिंबित हुआ करता है। संभव है, अन्य भाषाओं में 'सूद' अर्थ रखनेवाले शब्दों की छानबीन करने पर ऐसा ही प्रकार दीख पड़े।

होगी, यह जितना किसान के पुरुषार्थ पर अवलंबित है, उतना ही दैव पर भी—याने मौसम कैसा रहता है, वह फसल के लिए कहाँ तक अनुकूल पड़ता है, इस पर—निर्भर है। मौसम विपरीत होने पर किसान को उधारी करनी पड़ती है और वह साहूकार के चंगुल में फॅसता है। किसान के लिए एक ऐसा नियोजन होना चाहिए, जिससे वह दैव की इस घटी-बढ़ी का सन्तुलन रख सके। अच्छे साल में भरपूर होनेवाली फसल मे से कुछ भाग अलग रखकर, जमाकर, कमी के साल में उसके उपलब्ध हो सकने की कोई व्यवस्था होनी चाहिए। सुकाल में से अकाल की भरपाई होनी चाहिए।

बीमा-व्यवहार भी सुदैव पर कर लादकर उसकी पैदावार से दुर्दैव का गड्ढा भरने की एक योजना है। इसलिए किसान की खेती की फसल का बीमा करने की भी कोई अच्छी-सी योजना होनी चाहिए।

(२१) सहकारी-बैंक : यह किसानों का फसल से, पशुओं का मृत्यु से, बाल-बच्चों का रोग से, घर का आग से, इस तरह अनेक प्रकार के बीमे करने की सस्था ही है और वह होनी ही चाहिए। किन्तु इन दिनों किसानों के आत्मोद्धार के लिए बननेवाले सहकारी बैंक भले ही सौम्य हों, पर सूदखोरी ही चलाते हैं। यह उल्टा प्रकार है। जली हुई जगह पर इलाज के तौर पर भिलावे के दाग लगाने जैसा ही यह प्रकार है। वास्तव मे किसान को आपत्ति के समय या नव-विकास के लिए कम सूद पर ही नहीं, बल्कि बिना सूद का कर्ज मिलना चाहिए। भाग्यवान् किसान को अभागे किसान की मदद करनी चाहिए। बढ़ी फसल से कम फसल की भरपाई करनी चाहिए। अनुकूल मौसम को प्रतिकूल मौसम से सँवार लेना चाहिए।

लेकिन आज तो ये सोसाइटियाँ परस्पर शोषक ही बनी हैं। इन शोषक सोसाइटियों की जड़ मे आज यह भोली आशा काम करती रहती है कि इनके सदस्य आपस मे ही एक-दूसरे का शोषण करते

रहें, तो परस्पर का पोषण भी सहज ही सध जायगा। मानो एक-दूसरे को 'मरा-मरा' (मरो, मरो) कहकर कोसते रहने से परस्पर "राम-राम" कहकर अभिवादन करने जैसा सहज ही बन आयेगा। किन्तु यह आशा सर्वथा भ्रामक है। कारण, सोसाइटी के सदस्य दो वर्गों मे बॅटे रहते हैं : एक साहूकार याने जिन्हें कभी कर्ज लेना ही नहीं पड़ता और दूसरा गरजू याने कर्ज पाने के लिए ही जो उसका सदस्य बनता है। कुछ लोग केवल सूद लेते हैं, कभी देते नहीं। बाकी के लोग सूद चुकाते हैं। भले ही उसमें से आना रुपया नफे के रूप में उन्हें वापस मिल जाय, फिर भी शेष पन्द्रह आने तो वे सालों खोते ही रहते हैं। इसलिए हम तो यही उचित समझते हैं कि प्रत्यक्ष शोषण और अप्रत्यक्ष पोषण साधने का यह व्यर्थ का घटाटोप न किया जाय और सीधे-सीधे परस्पर पोषण की नीति ही अपनायी जाय।

उन अभागे और होनहार सदस्यों को, जिन्हें आपत्ति-निवारण या नव-विकास के लिए कर्ज की जरूरत पड़े, भाग्यवान् या सुखी पड़ोसियों की ओर से विना सूद के या वट्टेखाते ही कर्ज मिलना चाहिए। वैसे, आज सर्वत्र यही दृश्य दीख रहा है कि ये सोसाइटियाँ तो साहूकार हो चली हैं, पर उनके सदस्य तो कर्ज में फॅसकर कमजोर होते जा रहे हैं।

(२२) **पूँजी-निर्माण परम कर्तव्य :** नवीन उद्यमी व्यक्ति को सूद के रूप में पूर्व-उद्योग का बढ़ता बोझ ढोना न पड़े, साहूकार का मूलधन जितना हो, उतना ही, और वह भी वट्टेखाते से लौटाने की उस पर जिम्मेदारी रहे। फिर भी उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि और उसके लिए पूँजी-निर्माण भी हरएक उत्पादक का अनिवार्य उत्तरदायित्व माना जाना चाहिए। कारण हम देखते ही हैं कि भारत की और सारे विश्व की जनसंख्या प्रतिवर्ष १, १॥ प्रतिशत तो बढ़ ही रही है। याने इस साल १०० मन अनाज या १०० गज कपड़े से काम चल गया,

तो अगले साल १०१।। मन अनाज और १०१।। गज कपड़े की जरूरत पड़ेगी और उतनी उत्पादन-वृद्धि होने पर ही वर्तमान जीवन टिक सकता है।

किन्तु इसके साथ ही अपना जीव-नस्तर बढ़ाना भी हमारा परम कर्तव्य है। आज तक हमारे याने सारे मानव-कुटुम्ब के बड़े-बूढ़ों द्वारा किये गये कठिन श्रम, चिन्तन, प्रयोग और खोज की सचित वसीयत आगे की पीढ़ी को मिलती रही और उससे पिछली पीढ़ी की अपेक्षा आगे की पीढी की रहन-सहन अधिक-से-अधिक समृद्ध होने लगी। यह पितृ-ऋण चुकाने का समुचित मार्ग यही है कि हम अपने आगे की पीढ़ियों का जीवन-स्तर अपने से भी ऊँचा उठाने का यत्न करें। दिवगत पितरों का सच्चा श्राद्ध अपत्य-सगोपन ही है। नित्य बढ़नेवाले उनके पुतलो से घर भरकर बाल-बच्चों को रहने के लिए जगह ही न रहने देना, पितरों के नाम पर ब्राह्मणों को खूब खिला-पिलाकर बच्चों को भूखा रखना, मृतकों की कब्रों से खेती की जमीनें छेंक-छेंककर जीवितों को कब्रिस्तान के रास्ते लगाना या पहले की पूँजी पर सूद खाते रहना उनका श्राद्ध नहीं। भावी उत्पादन-वृद्धि के लिए औजार तैयार करना, रास्ता-पुल-घाट बनाना, गाड़ी-जहाज
[illegible] खेत तैयार कराना और बाग-बगीचे लगाना ही उनका सच्चा
ाराश, वर्तमान के पैर भूतकाल न खींचे, बल्कि उस पर
का आकर्षण अवश्य रहे।

मस्या की वृद्धि और जनता का जीवन-स्तर उठाने के लिए
शत याने कुल ३ प्रतिशत उत्पादन प्रतिवर्ष बढ़ाना चाहिए।
दन-वृद्धि करने के निमित्त सभी उत्पादकों के लिए यह
र दिया जाय कि वे वर्तमान उत्पादन से कम से-कम १०
चालू आवश्यकताओं पर खर्च न कर पूँजी-निर्माण मे
वश्य ही चाल के किरायेदारों पर, उसके मालिक को
होनेवाली छीजन की भरपाई के सिवा सूद और

चुकाने की जोखिम न रहे। फिर भी उस चाल पर एक मंजिल और खड़ी करने या और कमरे बढ़ाने की जिम्मेदारी अवश्य होनी चाहिए। असामियों को जमींदार को सदा या एकमुश्त भारी लगान देते रहने की कोई जरूरत नहीं। लेकिन नये खेत बनाने और नये पेड़ बढ़ाने की जिम्मेदारी उन पर होनी ही चाहिए। बी० ए० पास लड़का अपने बूढ़े माता-पिता की उनके शेष जीवनभर सेवा-शुश्रूषा करे, तो फिर उस पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़नेवाले पितरों के श्राद्ध करने का भार न रहे। किन्तु उसे अपने बच्चे को एम० ए० तक शिक्षण अवश्य देना चाहिए, भले ही इसके लिए उसे अपना पेट ही क्यों न काटना पड़े।

किन्तु आज तो सूदखोरी की प्रेत-बाधा के कारण मानव का उज्ज्वल भविष्य भी अधिकाधिक अन्धकारमय बनता जा रहा है।

(२३) रोक, निषेध और मुक्ति : यह विवेचन समाप्त करने के पूर्व हमें अपनी शक्ति की मर्यादा भी स्पष्ट कर लेनी चाहिए। शिष्टाचार ने सूदखोरी और कर्जदारी का निषेध कर दिया। अब अगर कानून भी सूद पर रोक लगाये याने सूद लेना अपराध घोषित कर दे, तो भी समाज से सूदखोरी का संपूर्ण उच्चाटन नहीं हो सकता। सूद का निषेध करने और उस पर रोक लगाने पर भी अनाड़ी, असहाय या व्यसनी, आलसी और शौकीन लोग साहूकारी-फंदे में फँसेंगे ही नहीं, ऐसी बात नहीं। सूदखोरी खुले तौर पर न सही, छिपे तौर पर तो चलती ही रहेगी। फिर भी 'सूदखोरी का संपूर्ण उच्चाटन कठिन है' इतने भर से उसका समर्थन नहीं किया जा सकता या सूद की 'उचित दर' तय करना भी ठीक न होगा। सरकार और समाज-सेवकों की लाख कोशिश के बावजूद आज भी घूस का लेना-देना बन्द नहीं हुआ, उल्टे कदाचित् वह बढ़ ही रहा होगा। लेकिन इसलिए हम 'घूस की उचित दर' तय नहीं कर देते। सूदखोरी के लिए भी ठीक यही न्याय लागू होता है।

...

तो अगले साल १०१।। मन अनाज और १०१।। गज कपड़े की जरूरत पड़ेगी और उतनी उत्पादन-वृद्धि होने पर ही वर्तमान जीवन टिक सकता है।

किन्तु इसके साथ ही अपना जीव-नस्तर बढ़ाना भी हमारा परम कर्तव्य है। आज तक हमारे याने सारे मानव-कुटुम्ब के बड़े-बूढ़ों द्वारा किये गये कठिन श्रम, चिन्तन, प्रयोग और खोज की सचित वसीयत आगे की पीढ़ी को मिलती रही और उससे पिछली पीढ़ी की अपेक्षा आगे की पीढ़ी की रहन-सहन अधिक-से-अधिक समृद्ध होने लगी। यह पितृ-ऋण चुकाने का समुचित मार्ग यही है कि हम अपने आगे की पीढ़ियों का जीवन-स्तर अपने से भी ऊँचा उठाने का यत्न करें। दिवगत पितरों का सच्चा श्राद्ध अपत्य-सगोपन ही है। नित्य बढ़नेवाले उनके पुतलो से घर भरकर बाल-बच्चों को रहने के लिए जगह ही न रहने देना, पितरों के नाम पर ब्राह्मणों को खूब खिला-पिलाकर बच्चों को भूखा रखना, मृतकों की कब्रों से खेती की जमीनें छेंक-छेंककर जीवितों को कब्रिस्तान के रास्ते लगाना या पहले की पूँजी पर सूद खाते रहना उनका श्राद्ध नहीं। भावी उत्पादन-वृद्धि के लिए औजार तैयार करना, रास्ता-पुल-घाट बनाना, गाड़ी-जहाज बनाना, नये खेत तैयार कराना और बाग-बगीचे लगाना ही उनका सच्चा श्राद्ध है। साराश, वर्तमान के पैर भूतकाल न खींचे, बल्कि उस पर भावी उत्कर्ष का आकर्षण अवश्य रहे।

जनसख्या की वृद्धि और जनता का जीवन-स्तर उठाने के लिए १।।-१।। प्रतिशत याने कुल ३ प्रतिशत उत्पादन प्रतिवर्ष बढ़ाना चाहिए। इतनी उत्पादन-वृद्धि करने के निमित्त सभी उत्पादकों के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाय कि वे वर्तमान उत्पादन से कम से-कम १० प्रतिशत भी चालू आवश्यकताओं पर खर्च न कर पूँजी-निर्माण मे लगायें। अवश्य ही चाले के किरायेदारों पर, उसके मालिक को उपयोग से होनेवाली छीजन की भरपाई के सिवा सूद और नफा

चुकाने की जोखिम न रहे। फिर भी उस चाल पर एक मंजिल और खड़ी करने या और कमरे बढ़ाने की जिम्मेदारी अवश्य होनी चाहिए। असामियों को जमींदार को सदा या एकमुश्त भारी लगान देते रहने की कोई जरूरत नहीं। लेकिन नये खेत बनाने और नये पेड़ बढ़ाने की जिम्मेदारी उन पर होनी ही चाहिए। बी० ए० पास लड़का अपने बूढ़े माता-पिता की उनके शेष जीवनभर सेवा-शुश्रूषा करे, तो फिर उस पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़नेवाले पितरों के श्राद्ध करने का भार न रहे। किन्तु उसे अपने बच्चे को एम० ए० तक शिक्षण अवश्य देना चाहिए, भले ही इसके लिए उसे अपना पेट ही क्यों न काटना पड़े।

किन्तु आज तो सूदखोरी की प्रेत-बाधा के कारण मानव का उज्ज्वल भविष्य भी अधिकाधिक अन्धकारमय बनता जा रहा है।

(२३) रोक, निषेध और मुक्ति : यह विवेचन समाप्त करने के पूर्व हमे अपनी शक्ति की मर्यादा भी स्पष्ट कर लेनी चाहिए। शिष्टाचार ने सूदखोरी और कर्जदारी का निषेध कर दिया। अब अगर कानून भी सूद पर रोक लगाये याने सूद लेना अपराध घोषित कर दे, तो भी समाज से सूदखोरी का संपूर्ण उच्चाटन नहीं हो सकता। सूद का निषेध करने और उस पर रोक लगाने पर भी अनाड़ी, असहाय या व्यसनी, आलसी और शौकीन लोग साहूकारी-फंदे में फँसेंगे ही नहीं, ऐसी बात नहीं। सूदखोरी खुले तौर पर न सही, छिपे तौर पर तो चलती ही रहेगी। फिर भी 'सूदखोरी का सपूर्ण उच्चाटन कठिन है' इतने भर से उसका समर्थन नहीं किया जा सकता या सूद की 'उचित दर' तय करना भी ठीक न होगा। सरकार और समाज-सेवकों की लाख कोशिश के बावजूद आज भी घूस का लेना-देना बन्द नहीं हुआ, उल्टे कदाचित् वह बढ़ ही रहा होगा। लेकिन इसलिए हम 'घूस की उचित दर' तय नहीं कर देते। सूदखोरी के लिए भी ठीक यही न्याय लागू होता है। ...

तक बन पडेगा, ससार का कल्याण ही होगा। वैसे स्वार्थी बैंक भी तो अजर और अमर थोड़े ही हुआ करते हैं।

(३) सहकारी-समितियाँ कैसे चलें ? : बैंकों के बारे मे उठा हुआ प्रश्न ही किसानों की सहकारी-समितियों के बारे में भी इस रूप में उठ सकता है कि 'आप कहते हैं, उस तरह ये समितियाँ भी परस्पर पोषक बनकर कैसे चल सकेंगी ? वे भी तो पूँजी सूखकर बन्द हो जायँगी ?'

किन्तु यहाँ भी वही उत्तर है। सदस्यों को विपत्ति में या विकास-कार्य के लिए मदद देना ही इन समितियों का उद्देश्य होना चाहिए। अब ऐसी बात नहीं कि सभी सदस्यों की खेती एक साथ चौपट हो जाय या लगातार चौपट होती रहे। इसलिए जिनकी अच्छी फसलें हुई हों, वे जिनकी फसल नष्ट हो गयी हो उनके लिए या अपनी जिस साल अच्छी फसल हुई हो उस साल, अपनी जिस साल फसल नष्ट हो जाय उस साल के लिए खुद ही सहकारी-समिति के पास अपनी फसल के अनुपात मे धरोहरें लाकर रखें और उन पर सूद की नहीं, बल्कि परस्पर के सहायतार्थ उनके घटने की ही आशा रखे।

उपप्रश्न : अगर किसी साल किसी पूरे-के-पूरे गाँव के या एक विभाग के सभी किसानों की फसलें नष्ट हो जायँ तब ? याने किसी गाँव या किसी विभाग मे सर्वत्र अकाल पड़ जाय तब ?

उत्तर : तो, उस साल सारे गाँव को या विभाग को पड़ोस के सुखी गाँव या विभाग की ओर से मदद मिलनी चाहिए। इसके लिए क्रमश तहसील, जिला, प्रदेश और देशव्यापी सहकारी बैंक होने चाहिए।

आजकल राज्य के सहकारी बैंक गाँव-गाँव की सोसाइटियों की पूँजी की पूर्ति करते हैं। उनका लक्ष्य कितना ही उज्ज्वल क्यों न हो, पर व्यवहार का प्रत्यक्ष स्वरूप शहर के साहूकार मालधनियों को अनाड़ी किसानों से बे-रोक-टोक सूद दिलाना ही दीख पड़ता है।

सारांश, आज आदमी-आदमी के बीच के बैंकिंग के व्यवहार एक-दूसरे को लूटने के लिए ही चला करते हैं। फिर भी कहा जाता है, 'इससे एक-दूसरे की सुविधा और कुल मिलाकर समाज का भला ही होता है!' किन्तु यह निरा भ्रम है। इसकी जगह पर अब से ये व्यवहार एक-दूसरे के काम आने के सद्-हेतु से ही चलने चाहिए, तभी उनसे सबका और हरएक का विशुद्ध हित हो सकेगा।

आज यह आम धारणा चल पड़ी है कि 'निर्धनों का शोषण द्रव्य-संग्रह का सहज धर्म ही है।' यह धारणा ऐसी ही है, जैसी कि 'शस्त्र निर्बलों की हत्या के लिए ही होते हैं।' किन्तु वास्तविकता यह है कि सज्जनों के हाथ के शस्त्र दुखियों की रक्षा के लिए ही होते हैं, निरपराधियों को मारने के लिए नहीं। यही बात कण्व ऋषि के आश्रम का ऋषि-कुमार राजा दुष्यन्त से कहता है :

'आर्तत्राणाय वः शस्त्रम्,
न प्रहर्तुम् अनागसि।'

इसी तरह धन भी एक शस्त्र है और उसका उपयोग विवेक-पूर्वक अच्छी बात के लिए ही होना चाहिए।

(४) कोई कर्ज देगा ही नहीं : 'दिये हुए कर्ज पर अगर सूद न मिले, उल्टे मूलधन में ही कमी होती जाय, तो लोग अपने पास ही पैसा बटोरकर रख लेंगे या गाड़ देंगे, पर दूसरों को कर्ज न देंगे। अगर गरजू लोगों के लिए उसका बाहर निकालना आवश्यक हो, तो मालिकों को सूद का प्रलोभन देना ही चाहिए!'

उत्तर : सूद के प्रलोभन के अभाव मे अगर साहूकार अपना पैसा रोक रखे, तो भी कुछ बिगड़ता नहीं। कदाचित् उससे कुछ भला ही होगा।

पीछे हम देख ही चुके हैं कि पैसा पूँजी नहीं; बल्कि औजार, यंत्र, गाय-गोरू, पेड़, रास्ते, पुल, गाड़ी आदि ही सच्ची पूँजी है। 'पैसा'

नाम नहीं, नामदर्शक 'सर्वनाम' है। 'वह' मित्र भी हो सकता है और शत्रु भी। पैसा बैल की जोड़ी हो सकता है, तो बम भी। 'वह' शब्द लुप्त हो जाने से अपना मित्र नष्ट हो जायगा, ऐसा भय मानने का कोई कारण नहीं। इसी तरह पैसा दबा रहे, तो भी राष्ट्र की सपत्ति नष्ट नहीं होती और न वह घटती ही है।

अथवा यह समझिये कि पैसा एक चिट्ठी ही है। आखिर सौ रुपये के नोट पर भी यही लिखा रहता है कि 'यह चिट्ठी लानेवाले व्यक्ति को वह जो माँगे, सौ रुपयों का माल दिया जाय'। अंग्रेजी 'नोट' शब्द का अर्थ भी चिट्ठी ही है। चिट्ठी गुम हो जाय या ऐसी बहुत-सी चिट्ठियाँ जमा करनेवाला अगर उनका स्वय उपयोग न करे और न दूसरों को ही दे, बल्कि दबा रखे, तो उससे दूसरों की कुछ भी हानि नहीं होती।

आखिर हजार रुपये के नोट का, कागजी मूल्य एक आना भर ही होगा। सुन्दर छपा-छपाया, चीमड़ और चिकना कागज, इतना ही तो उसका अपना अगभूत मूल्य है।

इसलिए सूद की आशा न होने के कारण अगर आज धनी लोग पैसा किसीको न देकर दबा रखें, तो उससे दुनिया का कुछ भी न बिगड़ेगा।

इतना ही नहीं, बल्कि दुनिया को उतनी निश्चिन्तता भी प्राप्त होगी। पैसा एक प्रचड शक्ति है। वह जिसके हाथ लगती है, वह बल-वान् बनता और दूसरों के लिए भारी हो जाता है। नोट, पास-बुक, चेक आदि के चलते छोटी-सी जेब मे भी अटूट पैसा बटोरा जा सकता है और चुपके-चुपके घूमा भी जा सकता है। यदि कोई धनिक दस लाख रुपये लेकर हमारे गाँव मे आ पहुँचे और वहाँ उन रुपयों को बाहर निकाले, तो वह अनर्थ कर सकता है। वह सारा गाँव उजाड़ भी सकता है।

पैसे को गोला-बारूद ही समझिये। अगर वह सचित होता या

ठंडा पड़ जाता है, तो उससे मानव का अहित नहीं, हित ही होगा। इसीलिए हम कहते हैं कि सूद मिलने की आशा न रहने पर अगर साहूकार अपने पास की मुद्राएँ और नोट बाहर नहीं निकालता और गाड़ ही रखता है, तो अच्छा ही होगा।

जो सच्ची संपत्ति है—जैसे आरा, मकान आदि—उसकी उपयोग-मूलक छीजन का किराया लेने में हमारी कोई रोक नहीं। ये चीजें और इसी तरह अन्न, फल आदि संपत्ति नश्वर हैं। विशेषतः उपयोग में न आने पर वे और भी जल्दी नष्ट हो जाती हैं। इसी कारण मालिक आरजू-मिन्नत कर और कुछ प्रलोभन भी दिखाकर दूसरों को उनका उपयोग करने देते हैं।

(५) पर वास्तविक पूँजी भी तो बढ़नी ही चाहिए न ? :

'उसके लिए भी तो सूद का प्रलोभन चाहिए ही। आज भी दुनिया और हमारा देश गरीब है। संपत्ति जितनी बढ़े, उतनी बढ़नी चाहिए और इसीलिए आप जिसे 'सच्ची पूँजी' कहते हैं, उसकी वृद्धि होनी चाहिए। वर्तमान उत्पादन और अपनी-अपनी वर्तमान कार्यशक्ति को चालू उपभोग में ही व्यय न कर उसका कुछ अंश भावी उपयोग के निमित्त औजार या साधनों के बनाने में या पूँजी-निर्माण में लगाना आज का अत्यावश्यक कर्तव्य है। उस पूँजी-वृद्धि का लाभ उसे बढ़ानेवाले को मिले, यह भी न्यायोचित ही है। उदाहरणार्थ, मान लीजिये कि दो कुली हैं। उनमें से पहला रोज की कमाई दैनिक उदर-पूर्ति में ही व्यय कर डालता है। किन्तु दूसरा थोड़ी-थोड़ी बचत कर उससे एक ठेला-गाड़ी बनाता है। ठेलागाड़ी के सहारे वह सिर उठानेभर के बोझ से दुगुना, चौगुना यातायात और कमाई कर लेता है। आगे चलकर वही ठेलागाड़ी अन्य किसी कुली को उपयोग के लिए दे दी जाय, तो उसे भी उसकी सहायता से अधिक आय होगी ही। ऐसी स्थिति में यदि वह अपनी आय का आधा हिस्सा ठेले के मालिक को किराये के तौर पर

देता है, तो वह उचित ही माना जायगा। स्पष्ट ही है कि यह किराया उस गाड़ी की छीजन से बहुत अधिक होगा। अर्थात् मालिक को उस किराये में छीजन ही नहीं, अनायास सूद भी हाथ लगेगा। इसमे उस किरायेदार कुली का भी शोषण नहीं होता और उस ठेलागाडी से कुली को ज्यादा आमदनी होकर लोगों को भी कुलीगिरी की दर पहले से कम पड़ती है। इस दृष्टि से समाज को भी लाभ ही होगा। फिर उस सूद-वसूली मे अनौचित्य जैसा क्या रहा?'

उत्तर :—हम मानते हैं कि सूद का यह समर्थन वस्तुस्थिति के अनुरूप है। फिर भी यह स्थिति अस्थायी है। कुछ समय तक ठेलागाड़ी के पहले मालिक को यातायात की दर कम रखकर भी पूँजी पर भरपूर सूद मिल सकता है। लेकिन धीरे-धीरे दूसरा कुली भी अपनी ठेलागाड़ी बना लेगा और अधिक आमदनी करने लगेगा। उसका उत्कर्ष देखकर अन्य दूसरे कुली भी ठेलागाड़ियाँ बनायेंगे। फिर उन कुलियों से भिन्न सुधरे वर्ग मे से भी ठेलागाड़ीवाले कुली पैदा हो जायँगे और उनके सामने गैर-सुधरे कुलियों को हार खानी पडेगी। इस तरह कुलियों को अधिक आमदनी होने पर भी लोगों को कुलीगिरी की दर कम पडने लगेगी। इसी पूँजी-वृद्धि से सारे समाज का लाभ और उत्कर्ष होगा।

पूँजी पर सूद लगाने की प्रथा चल पड़ने से इस स्वाभाविक और सार्वत्रिक उत्कर्ष मे बाधा खड़ी होगी। मितव्ययी और शोधक बुद्धिवाले मजदूरों का उत्कर्ष हो, यह उचित ही है। लेकिन मानवीय समाज-जीवन की यह खूबी ही है कि अपने श्रम द्वारा अर्जित एक व्यक्ति का उत्कर्ष धीरे-धीरे सारे समाज मे फैल जाता है। उसके फैलने तक उस प्रगतिशील मजदूर को उस उत्कर्ष का विशेष लाभ घटती मात्रा मे मिलता रहे, यही उचित और न्याय्य है।

किन्तु इस स्वाभाविक और आरोग्यमय विकास-क्रम मे सूद-

खोरी की प्रथा से विकृति पैदा हो जाती है। पहला उद्योगी शोधक मजदूर सूद का आदी बन जाता है, तो वह काम-धंधा छोड़कर मुफ्तखोर, मिजाजखोर और समाज के लिए भारभूत बन जाता है। उसकी उन्नति दूसरे के लिए अवनति बन जाती है। दूसरे लोग लाचार, हताश और लोभी बन जाते हैं। वह स्वयं नीचे गिरता और दूसरों को भी गिराता है। इस तरह उसका मूलतः तारक उत्कर्ष दूसरों के लिए और स्वयं उसके लिए भी मारक सिद्ध होता है। इन सभी अनर्थों की जड़ है, सूदखोरी।

(६) **कर्जदार जल्दी कर्ज न चुकायेगा :** 'कर्ज पर सूद चढ़ता रहे, तो कर्जदार को उसे चुकाने की जल्दी भी होती है। वट्टेखाते के सिद्धान्तानुसार कर्ज चुकाने मे जैसे-ही-जैसे देरी होगी, वैसे-ही-वैसे मूलधन घटता ही जाता हो, तो कर्जदार जहाँ तक बनेगा, कर्ज चुकाने मे देर ही करेगा। फिर कर्ज की वसूली बड़ी कठिन या असंभव हो जायगी।'

उत्तर : आजकल कर्जदार को कर्ज चुकाने के लिए विवश करने मे सूद बढ़ने के सिवा और दो दबाव हुआ करते हैं। इनमे एक है, उसकी सपत्ति जब्त होने का और दूसरा, उसकी साख उठ जाने का। ये दोनों भय वट्टेखाते के कर्ज पर भी लागू होते हैं। वट्टेखाते के कर्ज के लिए भी कर्जदार की सपत्ति बंधक रखी जा सकती है और निश्चित अवधि के भीतर उसे न चुकाने पर वह जब्त भी की जा सकती है। आखिर सूद पर लिये जानेवाले प्रचलित कर्ज मे भी मुख्य बंधक कर्जदार की नेकी और वैयक्तिक साख ही तो हुआ करती है। और वह आज की लोभी साहूकारी की अपेक्षा वट्टेखाते की उपकारी साहूकारी में और भी अधिक लागू होगी। स्वार्थी और सूदखोर साहूकार को ठगने पर कर्जदार की जितनी अप्रतिष्ठा होगी, वट्टेखाते के भले और उपकारी साहूकार को ठगने पर उससे कहीं अधिक

अप्रतिष्ठा होगी। इसी तरह उपकारी साहूकार का कर्ज चुकाने की चिन्ता भी उसे कहीं अधिक ही रहेगी।

उधारी-व्यवहार को अंग्रेजी में 'क्रेडिट' (Credit)=विश्वास ही कहते हैं। बट्टेखाते का उधार यथासभव जल्द-से-जल्द वापस न करनेवाला कर्जदार अत्यधिक विश्वासघाती माना जायगा और इसी भय से वह अपना कर्ज समय पर चुकता कर देगा। नहीं तो जब्ती का रास्ता है ही।

(७) **लोग बचत ही न करेंगे :** कुछ लोग यह आशका करते हैं कि 'अगर बचत पर सूद न मिले और उल्टा वह प्रतिवर्ष घटता ही जाय, तो लोगों को बचत करने की प्रेरणा ही न होगी। सभी लोग अपनी आय हाथोहाथ ही खतम कर डालेंगे।' किन्तु ऐसा होने का कोई कारण नहीं। यह सच है कि इससे अमर्याद धनसंग्रह करने-वालों के शौक पर अवश्य रोक लगेगी और वह हमे इष्ट ही है। किन्तु उचित सचय और पूँजी-निर्माण मे उससे कोई बाधा खड़ी न होगी। मानव केवल मुद्राओं का ही सग्रह थोड़े ही करता है। लड्डू-पेडा जैसी चार-आठ दिनों में ही बिगड़ जानेवाली चीजों को भी वह दिन-के दिन समाप्त न कर बचा ही रखता है। फिर पीढ़ी-दर-पीढ़ी टिकनेवाले पैसे को वह, धीरे-धीरे घट जाने के भय से, बचा न रखेगा, यह हो नहीं सकता। संभव है कि सूदबंदी और मुद्रा-घटी लागू होने पर कुछ समय तक लोग ठिठक जायँ, पर शीघ्र ही उनमें सग्रह-वृत्ति वापस लौटे बगैर न रहेगी। दुनिया के लिए न सही, अपने बाल-बच्चों के लिए तो अधिकाधिक समृद्ध खेती-बारी, घर-द्वार, बर्तन-भाँडे, बोरिया-बिस्तर और गहने-कपड़े छोड़ जाने की हरएक व्यक्ति को उत्कण्ठा रहा ही करती है। उसके लिए प्रत्येक गृहस्थ पूँजी-निर्माण और उसके लिए बचत करता ही रहता है। यह जानते हुए भी कि, दीमक चट कर जायँगे और घूस पोला कर डालेंगे, मानव

घर खड़ा करता, खेत बनाता और बाग लगाता ही रहता है। भले ही वह इसे स्वार्थ के लिए करे या कर्तव्य समझकर, पर करता है, इतना तो स्पष्ट ही है। मानव का स्वभाव और उसकी गठन ही ऐसी है कि जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ता और दृष्टि विकसित होती है, उसके स्वार्थ और कर्तव्य के मार्ग भी अधिकाधिक एकरूप होते जाते हैं। दूरदर्शी मानव सूद न मिलने और घटती होती रहने पर भी बचत और नव-निर्माण करता ही जायगा। इसके विपरीत संकुचित स्वार्थग्रस्त मानव को काफी सूद का प्रलोभन दिखाने पर भी वह बचत करने के बजाय ऋण निकालकर त्यौहार मनाना ही पसंद करेगा।

(८) व्यापार और कर्ज-व्यवहार : जैसे किसान को कर्ज की जरूरत पड़ती है, वैसे ही व्यापारी को भी। व्यापार में कितनी ही पूंजी लगाइये, कम ही पड़ेगी। यह भी एक टेढ़ा सवाल है कि व्यापारी को कर्ज देने मे उसकी आवश्यकता और पात्रता-अपात्रता कैसे निश्चित की जाय। किन्तु इस प्रश्न के विचार में न पड़कर साधारणतः हमें यही कहना है कि व्यापार व्यक्तिगत रूप से लोगों के हाथ मे न रहे, बल्कि उसे सम्बद्ध सहकारी-समितियाँ या सार्वजनिक संस्थाएँ याने सरकार ही चलाये। फिर वह सरकार गाँव की हो, जिले की, प्रांत की या भारत की, यह उस-उस पदार्थ के स्वरूप पर निर्भर होगा। व्यापार में बाजार-भाव की तेजी-मंदी और उसके चलते नफा-नुकसान के अनेक अवसर आते ही रहते हैं। यह खतरा या अवसर व्यक्तिगत व्यापारियों के सिर पड़ना ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त व्यापार व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि न्याय, नीति और सर्वभूत-हित का अनुसरण करके ही चलाया जाना चाहिए। नहीं तो वह (व्यापार) एक तरह से जुआ ही होता है। उसमे व्यक्ति कब चकनाचूर हो जाय, इसका कोई भरोसा नहीं। व्यापार को विश्व-हितार्थ चलाना व्यक्ति से सधने या सँभलने जैसी बात नहीं।

है। सूदखोरी बंद होते ही परस्पर का यह अविश्वास, गलतफहमी और द्वेष दूर हो जायगा तथा फटे दिल फिर से आ जुड़ेंगे। प्रेम, विश्वास और सहकार्य सबसे बड़ी राष्ट्रीय पूँजी है। परकीय आक्रमण के विरुद्ध यह एक अभेद्य और जीती-जागती चहारदीवारी है।

(५) सरकारी सेविंग-बैंक : सरकारी सेविंग-बैंकों मे नागरिक अपनी-अपनी रोकड़, माल (धरोहर), आभूषण, जवाहिरात इसीलिए लाकर रखेंगे कि वे सुरक्षित रहें, कठिनाई के समय हमे वापस मिलें और काम आ सकें। इस सुरक्षा के निमित्त उन्हें कुछ वट्टाखाता भी सहना होगा। पुलिस और सेना की जरूरत सिर्फ धनी-वर्ग को ही पडती है। दरिद्रनारायण को न तो चोरों का भय रहता है और न परकीय आक्रमण का। फिर भी इस विभाग के भारी-भरकम खर्च का बोझ गरीबों पर ही लादा जाता है। सरकार द्वारा बट्टेखाते पर ही धरोहरें स्वीकार करने पर जिस वर्ग को सरक्षण की आवश्यकता है, वही उसका भी खर्च उठाये, यह न्याय्य-व्यवस्था हो पायेगी। इस तरह मीयाद-बदी की या चालू धरोहरों से सरकार विकास-योजनाएँ चलायेगी। इस विकास पर सूद का बोझ न होने से उत्पादन-वृद्धि के साथ ही सस्तापन होगा और विकास का लाभ असहाय गरीबों को भी मिलेगा।



उपाय-योजना

अभी तक के विवेचन से किसी भी पापभीरु और निष्पाप जीवन विताने के इच्छुक व्यक्ति को सूदखोरी से घिन पैदा हो जायगी। अब ऐसे लोग सूद की प्रथा से अपना और समाज का छुटकारा करने के लिए क्या करें, इसका भी विचार होना चाहिए। इसी दृष्टि से मैं यहाँ कुछ उपाय सुझा रहा हूँ। सहधर्मियों को और भी जो उपाय सूझ पड़ें, कृपा कर वे उन्हें हमे सूचित करें या प्रकाशित कर दें।

(१) **सूद न दें और न लें :** सूद-विरोधी मोर्चे के सैनिकों का कर्तव्य है कि वे स्वयं सूद न लें। इसी तरह सूद पर कर्ज लेने से भी इनकार कर दें। उचित कारण के लिए विना सूद कर्ज मिलने पर ही उसे स्वीकार करें।

वे वैंक में रखी धरोहर पर भी सूद न लें, और लें भी तो वट्टेखाते या धर्मादा मे उसे व्यय कर दें।

(२) **पोषक सहकारी-वैंक :** इसका महत्त्वपूर्ण और प्रभावकारी सामुदायिक उपाय है : वट्टेखाते पर कर्ज देनेवाले परस्पर पोषक सहकारी-वैंकों को वढ़ाना। ऐसे वैंकों को सरकार के सहकारी-विभाग द्वारा मान्यता और विशेष सुविधाएँ मिलनी चाहिए। उसके लिए कानून मे भी आवश्यक सुधार (सशोधन) करवा लिया जाय। पिछड़े वर्ग के और गरीव किसानों के आत्मोद्धार मे ऐसे 'पौष्टिक वैंक' विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे।

(३) **सूद पर धर्मादा न चलें :** मूलधन को कभी भी हाथ न लगाते हुए केवल सूद की आय पर धर्मादा सस्था चलाना धर्मादा की विडंवना ही है। ऐसी तथाकथित धर्मादा संस्थाएँ या दान अव से नवीन रूप में कभी न चलाये जायँ। इससे पहले जो सूद-जीवी धर्मादा

सस्थाएँ स्थापित हो चुकी हैं, उनकी वह जन्मसिद्ध विकृति मिटाने के लिए कानून मे कुछ व्यवस्था करना विधायकों का कर्तव्य है।

(४) **बचत कर :** जो लोग अपनी कमाई मे से चालू खर्च चलाकर कुछ बचत कर सकते हों, वे सचमुच भाग्यवान् हैं। कारण, ऐसे अनेक अभागे पाये जाते हैं, जिनकी कमाई से चालू उचित खर्च भी चल नहीं पाता। समाज के भाग्यवानों का कर्तव्य है कि वे अपने आसपास के सत्पात्र अभागों की कमी पूरी करने में मदद दें। वे अपनी कमाई का या खर्च का, नहीं तो बचत का विशिष्ट अंश—चौथा हिस्सा ही कहिये—सत्पात्र गरजू की अपरिवर्तनीय सहायता के निमित्त अलग निकाल रखें। इस रकम का उपयोग गरजू लोगों के सिवा होनहार लोगों द्वारा चलाये जानेवाले विकास-कार्य के प्रोत्साहनार्थ किया जाय, तो कोई आपत्ति नहीं। यह 'सपत्ति-दान-यज्ञ' का ही एक अत्यावश्यक सीधा प्रकार या पर्याय हो सकेगा।

—:o:—